हिन्दी सिनेमा में दलित जीवन की अभिव्यक्ति

कुलदीप सिंह
अतिथि प्राध्यापक, सिक्किम विश्वविद्यालय

शोध सारांश :
वर्तमान समय में साहित्य की भांति ही सिनेमा भी एक ऐसा सशक्त माध्यम है जिसके माध्यम से समाज अपने अक्स को देखता है । किन्तु यहाँ भी दलित समाज वर्ण व्यवस्था के चलते अपने को हाशिये पर पाता है । लगभग सौ वर्षों के इतिहास में समाज के विभिन्न मुद्दों को लेकर कई फिल्में बनी है किन्तु दलित समाज के उद्धार करने की चिंता,उनमें चेतना का संचार करने का लक्ष्य लेकर फिल्में प्रायः न के बराबर ही बनी हैं ।जहां कहीं उनसे जुड़े प्रसंगों का चित्रण हुआ है उनमें उन्हें लाचार, बेबस और असहाय रूप में चित्रित किया गया है । कुछ नया दिखाने का प्रयत्न नहीं हुआ है बल्कि हमेशा वे इसी रूप में दिखाये जाते हैं जिसके कारण समाज में उनकी एक छवि बन गयी है और अक्सर वे उनके प्रति नकारात्मक सोच पैदा करने का काम करती है,जिसे तोड़े जाने की आवश्यकता है । प्रस्तुत लेख हिन्दी सिनेमा में दलित प्रसंगों को लेकर कौन-कौन सी फिल्में बनीं हैं, उनकी क्या वस्तु स्थिति है, उसकी पृष्ठभूमि में कैसे कारण काम करते हैं और इस क्षेत्र में क्या संभावनाएं हैं उसको रेखांकित करने का प्रयत्न हुआ है |

बीज शब्द:
सिनेमा, दलित,सवर्ण,वर्ण व्यवस्था, जाति, शिक्षा, निर्देशक, हाशिया उत्पीड़न, व्यथा, आक्रोश, सहानुभूति इत्यादि

भारतीय सिनेमा प्रारंभ से ही सामाजिक विषयों का चादर ओढ़कर अपना पांव पसार रही है,फिर चाहे वह पहली मूक फिल्म 'हरिश्चंद्र' हो या पहली बोलती फिल्म 'आलमआरा'या कोई अन्य । प्रारम्भिक सिनेमा का मुख्य उद्देश्य हर वर्ग के लोगों का मात्र मनोरंजन करना होता है । इस मनोरंजन के साथ यदि कोई सामाजिक संदेश जुड़ जाए तो वो फिल्म कालजयी बन जाती है। सिनेमा का जन्म सिर्फ मनोरंजन परोसकर पैसे कमाने के लिए नहीं हुआ है । प्रारम्भ से सिनेमा के मजबूत कंधों पर देश-काल और सामाजिक दायित्व का दोहरा बोझ भी रहा है । अपने प्रारम्भिक काल से ही सिनेमा अपने मनमोहक लुभावने अंदाज के साथ-साथ अपनी सरल और प्रभावशाली संप्रेषणीयता के कारण लोगों के लिए आकर्षण का केंद्र रहा है । अपने सौ वर्ष के इतिहास में सिनेमा जगत ने कई विषयों को केन्द्र बनाकर समाज को नई दिशा प्रदान की है किंतु बात जब दलितों के उद्धार के संदर्भ में आती है तो हमें अपना चेहरा शर्म से झुका लेना पड़ता है।अपने शुरुआती दौर में फिल्मों का स्वरूप आदर्शपरक हुआ करता था जिसमे धर्म,परंपरा, मान्यताएँ, राजा-महाराजा, सामंतवाद आदि विषयों को प्रमुखता दी जाती थी । बाद में चलकर यथार्थपरक अभिव्यक्ति को स्थान दिया गया । इन फिल्मों में भी दलितों, पिछड़ों, अल्पसंख्य कों और महिलाओं से जुड़ी समस्याओं को कदापि नहीं उठाया गया । समाज में व्याप्त ऊंच-नीच, वर्ण व्यवस्था, जात-पात, अंधविश्वास आदि कुरीतियों को खत्म करने का प्रयास प्रायः नहीं किया गया । जय प्रकाश कर्दम लिखते हैं "यह कम विडंबनापूर्ण नहीं है कि भारतीय समाज में चिंतन की हर गाड़ी जाति के स्टेशन से बचकर निकलती है जबकि दलितों की सारी समस्याओं के मूल में सबसे बड़ा कारक जाति है । भारतीय सिनेमा का नजरिया भी इससे भिन्न नहीं

है। दलितों के प्रति करुणा दिखाकर वह 'अछूत कन्या', 'अछूत', 'सुजाता', 'बूट पॉलिश' और 'सदगति' जैसी फिल्मों का निर्माण तो करता है किन्तु जिस तल्खी और शिद्दत से जाति के प्रश्न को उठाए जाने की जरूरत है, उस तरह से नहीं उठाता । "[1]बाद में चलकर कुछ लोगों के प्रयासों द्वारा फिल्मों में दलित समाज के लोगों की यथा-व्यथा को आंशिक रूप में उभारना शुरू किया गया । जिस किसी भी फिल्म में उनसे जुड़े मुद्दे को उठाया गया वहाँ उन्हे सवर्णों के मनोरंजन करने के संदर्भ में ही लिया गया । वास्तव में आरंभिक फिल्मों में उनके उद्धार को लेकर कोई ठोस पहल नहीं की गयी । इतिहास में ऐसे कई दलित वीर योद्धा हैं जिनकी आवाज को धार्मिक ग्रन्थों में दबा दिया गया । साथ हीं उन्हें दबाने का काम केवल धार्मिक ग्रन्थों में ही नहीं बल्कि फिल्मों में भी खूब किया गया है।

धार्मिक ग्रंथ 'रामायण' और 'महाभारत' में आए हाशिये के पात्र 'शंबूक' एवं'एकलव्य' की कथा सभी को ज्ञात है कि किस प्रकार से ये पात्र सवर्णवादी मानसिकता के शिकार हुए हैं?किस प्रकार वर्ण व्यवस्था के चलते इनके साथ छल किया गया?किस प्रकार इनकी प्रतिभा को दबा दिया गया यह जग जाहीर है । वर्तमान समय में साहित्य की भांति सिनेमा में भी दलित चेतना नदारद है।आज भी ज्यादातर फिल्मों में दलितों को फिल्म का अंगी न मानकर बतौर अंग भर मान लिया जाता है,उनका उपयोग केवल मुख्य कथा को आगे बढ़ाने वाले पात्र, साइड केरेक्टर, कोरस गाने वाले या भीड़ के रूप में चित्रित किया गया है ।

दलित मुद्दों को लेकर पहली बार 'अछूत कन्या','अछूत' जैसी फिल्मों का बनना प्रारम्भ हुआ और तभी से लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित होने लगा । 'मौसी', 'सुजाता', 'दाग' आदि फिल्मों में सामाजिक रूढ़िवाद और अंधविश्वास के खोखलेपन का चित्रण अत्यंत मनोरंजक व नाटकीय शैली में दिखाने का प्रयास हुआ है। सामाजिक भावनाओं और मानवीय संवेदनाओं को व्यक्त करने वाली ये उत्कृष्ट फिल्म हैं । इन फिल्मों में नायिकाएँ अछूत समाज से हैं जबकि नायक सवर्ण समाज से । दोनों के संयोग में समाज की मान्यताएँ अवरोध का काम करती हैं । लोगों में चेतना का संचार करने का काम ये फिल्में करती हैं । 'अछूत कन्या' के बारे में बताते हुए प्रहलाद अग्रवाल लिखते हैं "अछूत कन्या में छुआछूत के अमानवीय कृत्य को बड़ी तीव्रता से उकेर कर उसकी भर्त्सना हुई है । यह उस समय के लिए कोई आसान काम नहीं था । यह बीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध था और राष्ट्र इस समस्या से गहराई तक ग्रस्त था ।"[2]इसी दौरान और भी फिल्में आती हैं जिसमे छुआछूत को केंद्र में रखकर 'धर्मात्मा' (1934) वेश्यावृत्ति को केंद्र में रखकर 'ठोकर' (1937) आदि आती हैं जिसमें दोनों के मेल होने में समाज की मान्यताएँ अड़चन पहुंचाने का काम करती हैं । अब तक की प्रकाशित फिल्मों के नाम हैं - अछूत कन्या (1936), जीवन प्रभात (1937), सती (1938), अछूत (1940), सत्यकाम (1946), दो बीघा जमीन (1953), बुटपॉलिश (1954), सुजाता (1959), परख (1960), फूल और पत्थर (1960), गंगा जमुना (1961), बाबी (1973), अंकुर 1974 , निशांत (1975} मंथन (1976), आक्रोश (1980) सद्गति (1981), दामुल (1985), भीम गर्जना (1989), धारावी (1991), बैंडिट क्वीन (1994) बवंडर(2000) लगान (2001), लज्जा (2001), मातृभूमि (2005), मोहनदास (2009),मांझी,सैराट, आरक्षण, आर्टिकल 15, काला जैसी आदि अनेक फिल्मों का नाम लिया जा सकता है जिसमे दलित प्रसंगों को बड़ी तल्लीनता के साथ उभारा गया है।

इनमे से ज़्यादातर फिल्मे एक ही ढर्रे पर दलितों की व्यथा को व्यक्त करती हैं जिसमे दलितों को असहाय, निरक्षर,निम्न काम करने वाला, शोषित,पीड़ित,लाचार, आदि के रूप में उद्घाटित किया गया है । हिन्दी सिनेमा द्वारा दलित समाज के लोगों की उपेक्षा किए जाने के पीछे का मुख्य कारण हाशिये के समाज के लोगों का गरीब होना है । इसीलिए पहले की प्रायः जितनी भी फिल्में हैं उनमें हाशिये के समाज के लोगों की अनदेखी की गयी है और किसी कारणवश उनका जिक्र आया भी है तो उन्हें दबा-कुचला, मजदूरी करने वाला, शोषण का शिकार, ऋण ग्रस्तता में जीवन जीने को मजबूर, खेत खलिहान में काम करने वाला आदि रुप में चित्रित किया है । अगर किसी निर्देशक ने दलित पात्रों को बतौर मुख्य नायक चित्रांकन किया भी है तो वह फिल्म ज्यादा दिनों तक सिनेमाघरों में नहीं दिखाई दी । हिन्दी सिनेमा में कुछ ऐसी फिल्में भी हैं जो मुख्य धारा के लोगों में विशेष पहचान नहीं बना पायी हैं किन्तु दलित समाज के लोगों में उसकी लोकप्रियता बढ़ी है,उन्हें उनके अधिकार और चेतना से उसका जुड़ाव लगा है । ऐसे फिल्मों में भीम गर्जना (1989) धारावी (1991) रुदाली (1992), मोहनदास (1999), शूद्र : द राइजिंग (2012) तीसरी आजादी । इस दिशा में डॉक्युमेंट्री फिल्मों की भी महत्वपूर्ण भूमिका है जिसमे प्रतिरोध, विकास बंदूक की नोट पर, अनटचेबल, पिस्तुलिया, ह्यूमन जू, फूंडी आदि महत्वपूर्ण हैं ।

यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि किसी व्यक्ति की छवि को यदि बार-बार एक ही रूप में दिखाया जाता रहे तो समाज उसके प्रति वैसी ही धारणा विकसित कर लेता है । दलितों को हमेशा इसी रूप में दिखाये जाने की वजह से उन लोगों के प्रति समाज में ऋणात्मक सोच बना है । इससे इनकार नहीं किया जा सकता है | इनका प्रभाव छोटे बच्चों तथा युवाओं पर नकारात्मक प्रभाव डालता है। यहीं बड़े होकर उनसे कन्नी काटने लगते हैं और शुरू होता है ऊंच-नीच का खेल, छुआछूत का खेल, स्पृश्य और अस्पृश्यता का खेल । हालांकि कई फिल्मों में दलितों को,बतौर नायक-नायिका के तौर पर भी फिल्माया गया है किन्तु ऊंच-नीच,जाति,धर्म,के बंधन में डालकर या तो उनका कत्ल करवा दिया जाता है या फिर

हवालात में डाल दिया जाता है। इस का परिणाम यह होता है कि दलितों की चेतना पनपने के पहले ही दब जाती हैं ।

हिन्दी सिनेमा में चित्रित दलित वर्गों के विभिन्न रूप

1. हिन्दी सिनेमा में दलित बाल-जीवन

हिन्दी सिनेमा में दलित बालकों का चित्रण अधिकांशतः बाल-मजदूर के रूप में ही दिखाया गया है । दलित समाज के बच्चों को ज़्यादातर किसी होटल में काम करते, पुलिस चौकी में चाय पहुंचाते,होटलों में टेबल व बर्तन साफ करते, किसी गैराज में मोटर कार की धुलाई करते, किसी पर्यटन स्थल पर गुब्बारे बेचते, स्टेशन पर भीख मांगते, प्लेटफॉर्म पर रुमाल में ड्रग्स का सेवन करते,गाँवों में किसी चट्टी-चौराहों पर तास के पत्ते फेंकते,खोमचे लगाते या किसी मेले में कोई करतब दिखाते दिखाया गया है । ठीक इसी तरह दलित लड़कियां घर पर ही रहकर तमाम तरह की जिम्मेदारियों - खाना बनाते, मवेशियों को चारा खिलाते, जंगल से लकड़ियाँ काटते, छोटे भाई-बहन की देखभाल करते, बर्तन धोते, उपले पाथते, झाड़ू-पोछा करते दिखाया गया है । फिल्मों में भी लड़के और लड़कियों के भेद को बखूबी दिखाया गया है । 'मातृभूमि' फिल्म में लिंगानुपात की समस्याओं को बताया गया है । जिसके संदर्भ में डॉ देवेन्द्र नाथ सिंह, डॉ वीरेंद्र सिंह यादव,भारतीय हिन्दी सिनेमा की विकास यात्रा एक मूल्यांकन में लिखते हैं "भ्रूण में शिशु बालिकाओं एवं नवजात बालिकाओं की हत्या और घटते लिंगानुपात को संबोधित करती है ।"[3] बच्चों के माँ- बाप,गरीबी और अशिक्षा के चलते उनके शिक्षा के प्रति विशेष ध्यान नहीं देते हैं इसलिए जिस उम्र में उनकी हाथों में किताबें और कलम-कापियाँ होनी चाहिए थी उस समय उनके कमजोर कंधों पर परिवार के दायित्व का बोझ दे दिया जाता है ।किसी भी फिल्म में इनकी शिक्षा को लेकर कोई प्रबंध नहीं मिलता है । इनकी शिक्षा में सबसे बड़ी बाधा अंग्रेजी मीडियम की शिक्षा को लेकर होती है। अधिकतर दलित बच्चे सरकारी स्कूलों में पढ़ते हैं जहां के शिक्षक उन्हें पढ़ाने के बजाय उन्हें साफ-सफाई वाले कार्यों में ही उलझाकर रखते हैं । उनके साथ छूत-अछूत का व्यवहार करते हैं । ज्ञान विज्ञान और तकनीकी शिक्षा अंग्रेजी में बेहतर ढंग से दी जाती हैं । ऐसे में अंग्रेजी जानने वाले बच्चों को रोजगार के क्षेत्र में संभावनाएं अधिक रहती हैं । दलित बच्चे जिन स्कूलों से पढ़कर निकल रहें हैं उनका कंप्यूटर से दूर-दूर तक कोई संबंध नहीं है जबकि पब्लिक और कान्वेंट स्कूलों में प्राइमरी स्तर से कंप्यूटर की शिक्षा दी जाती है । प्राइवेट संस्थानों से कंप्यूटर शिक्षा लेना इतना महंगा है कि रोटी का ठीक से जुगाड़ न कर पाने वाले दलितों के लिए यह किसी दुःस्वप्न से कम नहीं । दलितों की इन चुनौतियों को लेकर आज तक कोई फिल्म नहीं बन पायी ।"[4] आर्थिक विपन्नता के चलते इनके खाने-पीने का कोई ठिकाना नहीं रहता है जिसकी वजह से इनके शरीर का उचित विकास नहीं हो पाता है और शरीर कमजोर हो जाता है । न इन्हे खाने की सुध रहती है और न ही पहनने की । सवर्ण बच्चों के तुलना में ये अपने को कमतर आँकने लगते हैं जो बाद में चलकर कुंठा का रूप ले लेता है तथा भावी जीवन में गलत रास्ता अख़्तियार कर लेते हैं ।'स्लमडॉग मिलियेनर','बूट पॉलिश' 'सैराट', 'चौरंगा' आदि फिल्मों के माध्यम से दलित समाज के बच्चों की यथास्थिति को देखा जा सकता है ।

2. हिन्दी सिनेमा में दलित नवयुवक

समुचित शिक्षा और उचित कार्य कौशल के अभाव में ज़्यादातर दलित युवाओं को सरकारी और गैर सरकारी संस्थाओं में नौकरी नहीं मिलती है । प्राइवेट संस्थाओं में भी इनके साथ जातिगत व्यवहार किया जाता है । काम ज्यादा और पैसा कम दिया जाता है ।जमीन व जायदाद के नाम पर वैसा कुछ नहीं रहता कि खेती बारी या अपना कोई व्यवसाय करें इसलिए हिन्दी सिनेमा में ज़्यादातर युवाओं को खेतों में मजदूरी करते, बड़ी-बड़ी फैक्टरियों और कंपनियों में श्रम करते, शहरों में गटर आदि की सफाई करते,किसी जुलूस में भीड़ इकट्ठा करने के लिए ही इनको लिया जाता है । परिवार की जिम्मेदारियाँ निभाते-निभाते ये उसी व्यवस्था को जीने को मजबूर हो जाते हैं ।बाद के फिल्मों में विभिन्न आंदोलनों के प्रभाव से इनमें उस व्यवस्था के प्रति आक्रोश को भी दिखाया गया है । 'पार' फिल्म जो कि 'दामुल' की अगली कड़ी के रूप में आती है जो बिहार के गाँव देहात में दलितों के चुनाव में खड़े होने और सवर्णों के कुचक्रों से मिली असफलता को बयान करती हैं । स्वाधीनता संग्राम और राष्ट्रीय नव-निर्माण को लेकर देश में बहुत सी फिल्में आई किन्तु देश को आजादी दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले दलित युवाओं का चित्रण किसी भी फिल्म में बतौर मुख्य नायक के रूप में कभी नहीं उभारा गया है ।

3. हिन्दी सिनेमा में दलित बुजुर्ग

हिन्दी सिनेमा में बुजुर्गों को परंपरावादी और वर्णवादी मानसिकता के पोषक रूप में दिखाया गया है । इसका कारण है कि उन्होंने अपने जीवन काल में उन्हीं पहलुओं को जिया,जिसकी वजह से अक्सर उनको नई पीढ़ी की मान्यताओं से अंतर्विरोध रहता है । नई पीढ़ी के दलित युवाओं में जहां परंपरा और दकियानुषी मान्यताओं को उखाड़ फेकने पर ज़ोर दिया जाता है तो वहीं दलित बुजुर्ग उनके अनुपालन को ही महत्त्व देते हैं । वे अभी भी डरे सहमे है और कहीं न कहीं यह सोचते हैं कि परंपरा के विरुद्ध जाने पर सवर्ण मानसिकता के कोप का भाजक बनना पड़ेगा । इसलिए वे यथास्थिति में कोई भी परिवर्तन नहीं चाहते हैं । हिन्दी सिनेमा में ज़्यादातर दलित बुजुर्गों को ऋण ग्रस्तता और बीमार ही दिखाया गया है । अर्थ के साधन न होने पर मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए महाजन से पैसा सूद पर लेते

हैं और ताउम्र उसी कर्ज की भरपाई करने में अपना जीवन गवां देते हैं फिर भी कर्ज उतरने का नाम नहीं लेता है । उस कर्ज को उनके बच्चे भी नहीं उतार पाते हैं और उन्हीं के यहाँ बंधुआ मजदूरी करने को बाध्य होते हैं।

4. हिन्दी सिनेमा में दलित नारी

समाज में रहते हुए नारी भी हाशिये के समाज का हिस्सा हैं। उनके प्रति भी समाज दोयम दर्जे की मानसिकता रखता है। इस दोयम दर्जे में दलित महिलाएं सवर्ण महिलाओं की अपेक्षा शोषण का शिकार अधिक होती हैं । एक तो नारी ऊपर से दलित । हिन्दी सिनेमा भी इन दलित महिलाओं के उत्थान के प्रति निष्क्रिय रहीं हैं। अब तक के सिनेमाई इतिहास में दलित महिलाओं का चित्रण मात्र वस्तु, बेचारगी,लाचारी आदि के रूप में किया गया जिसका जब चाहा उपयोग किया और फेंक दिया ।"कोई सवर्ण या सामंत जब चाहे तब दलित स्त्री को अपनी वासना का शिकार बना सकता है, रजामंदी से या जबरन ।"[5] इनका चित्रण सवर्ण व सामंत की नगरवधू के अलावा,काम करने वाली बाई, नर्स, दाई के रूप में हुआ है । सिनेमा में दलित महिलाओं के साथ बलात्कार का सीन प्रस्तुत कर निर्देशक फिल्म में मसाला डालना चाहता है ताकि फिल्म दर्शकों को लुभाए, किन्तु कहीं न कहीं यह उनकी सच्चाई को भी बयां करती है । दलित महिलाओं को सवर्ण समाज की ऐय्याशी के साधन के रूप में ही खूब उभारा गया है । पुरुष प्रधान समाज में सारे अधिकार पुरुषों के हाथों में होने से वे लाचार और बेबस हैं । समाज में उनकी भूमिका केवल बच्चा पैदा करने की मशीन और शादी के समय लाने वाले दहेज के रूप में ही रह गयी है । इस वजह से लोग घर में बेटी पैदा होने पर खुशी मनाने के बदले चिंता में डूब जाते हैं । भ्रूण परीक्षण कानूनन अपराध होते हुए भी तमाम तरह के हथकंडे और टोने-टोटके अपनाते रहते हैं ताकि गर्भ में पल रहे बच्चे का लिंग पता कर सके । जब मालूम पड़ता है कि गर्भ में पल रहा बच्चा लड़की है तो गर्भपात करवा दिया जाता है । जहां भ्रूण परीक्षण की सुविधा नहीं रहती है वहाँ बेटे की चाह में न जाने कितने बच्चे पैदा हो जाते हैं । लड़के की चाह भी कहीं न कहीं जनसंख्या वृद्धि का अन्यतम कारण है । इस वजह से समाज में पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं की संख्या कम है । समाज में स्त्री की संख्या कम होने पर क्या दिक्कतें आती हैं इसका उदाहरण हमें 'मातृभूमि'जैसी फिल्म में देखने को मिलता है,जहां एक ही लड़की से चार-चार लोग शादी करते हैं । इस फिल्म के माध्यम से दलित समुदाय की वर्गगत और जातिगत अवस्था को देखा जा सकता है । इस फिल्म के बारे में सोमा बाधवा लिखते हैं "Without women men are not human. This metamorphosis of the made into animal if the world were to become women less is the theme of Matrubhumi. A nation without woman''"[6] 'यत्र नारी पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' वाली कहावत केवल किताबों तक ही सीमित होकर रह गयी है । वर्तमान समय में उनके लिए यह कहावत निकल पड़ी है कि 'लड़कियां तो गाय है चाहे ब्राह्मण को दान दे दो या कसाई को बेच दो' । महिलाओं के साथ हो रहे इन बर्ताव के चलते घर की आर्थिक स्थिति को दुरुस्त करने के चक्कर में अक्सर उन्हें सवर्णों के आगे झुकना पड़ता है । रेड लाइट एरिया, वेश्याबाजार में काम करने वाली प्रायः महिलाएं मजबूरी में ही उस पेशे को चुनती हैं । इन महिलाओं के माध्यम से कामुकता को लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है । प्रायः सभी फिल्मों में दबंग सवर्णों द्वारा इनकी इज्जत के साथ खिलवाड़ करते दिखाया गया है। पहले जहां वे चुपचाप परिस्थितियों को झेल जाती थीं वहीं अब इनका विरोध करने लगी हैं । हिन्दी सिनेमा के अब विभिन्न पात्र सवर्णों के अत्याचार को चुप-चाप नहीं सहते हैं बल्कि अब कड़े शब्दों में उनका विरोध करते देखे जाते हैं । "यूं 'आक्रोश' का नायक बलात्कारी की हत्या करके उसे सजा देता है तथा 'अंकुर','मंथन' आदि फिल्मों के नायक भी व्यवस्था का प्रबल प्रतीकार करते हैं । किन्तु दलित व्यक्ति शोषण के आगे झुके नहीं वह शोषण और अन्याय का प्रतीकार करे यह संदेश देने वाली सबसे सशक्त फिल्म 'बैंडिट क्वीन'ही दिखाई देती है जिसमे दलित युवती फूलन देवी सवर्ण हिंदुओं द्वारा अपने साथ किए जाने वाले अमानुषिक अत्याचार का बदला लेती है ।"[7] दलित उत्पीड़न की एक झलक जो हम फिल्म' बैंडिट क्वीन' में देखते हैं उसका विस्तार रूप 'बवंडर'(2000)में देखने को मिलता है । लज्जा (2001) भी एक ऐसी फिल्म है जिसके माध्यम से स्त्री की उपेक्षिता फिर चाहे वह किसी भी देश या समाज की हो को देखा जा सकता है । इसी तरह मातृभूमि (2003) फिल्म में निर्देशक मनीष झा ने समाज में स्त्री उत्पीड़न की मार्मिक दास्तां को बया किया है । इसके माध्यम से उनकी दशा और दिशा पर प्रकाश डाला गया है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य की तरह ही सिनेमा में भी दलित समाज हाशिये पर ही है । वर्ण व्यवस्था के चलते फिल्मों में भी इनके साथ भेदभाव किया जाता रहा है । सिनेमा जगत की महत्वपूर्ण हस्तियों ने कभी भी इस दिशा में पहल नहीं की । अगर किसी ने पहल की भी है तो वह दिखावा मात्र के लिए, उनका वर्णन केवल मुख्य कथा को आगे बढ़ाने वाले सहायक के रूप में ही किया गया है । 'काला', 'आक्रोश', 'दामुल' आदि फिल्मों में सामाजिक भेदभाव को लेकर फिल्मे आई हैं किन्तु इन फिल्मों में भी सामाजिक अव्यवस्था के कुछ बिन्दुओं का ही चित्रण हुआ है । इस पटल पर मराठी फिल्मों में बहुत सी ऐसी फिल्मे बनी है जिसमे 'शूद्र', 'तीसरी आजादी' 'डॉ अंबेडकर' 'अनटचेबल', 'सैराट', 'चौरंगा' आदि फिल्मों को गिनाया जा सकता है जिसमे दलित समाज से जुड़े विभिन्न मुद्दों को उजागर कर दलितों में चेतना फूंकने का काम किया है । समाज में एकता लाने के लिए जरूरी है कि अनमेल विवाह को बढ़ावा दिया

जाए । किन्तु ऐसी फिल्मों में भी स्त्री प्रायः दलित समाज से होती हैं जिनकों सवर्ण परिवार के लोगों का कोप भाजक बनना पड़ता है । अक्सर उनसे ज़ोर जबर्दस्ती करना, उन्हे मार देना, जलाना, प्रताड़ित करना, बदचलन साबित करना, ताने मारना, मानसिक दबाव डालने वाला आदि व्यवहार किया जाता है ताकि वें घर छोड़ कर भाग जाएं । 'सुजाता' फिल्म में विमल राय ने परंपरा से हटकर सवर्ण और अवर्ण के विवाह से नयी परंपरा की शुरुआत करती है जो सामंती व्यवस्था में स्वीकार्य नहीं था । इसके लिए उन्हे घोर विरोध का सामना भी करना पड़ा था । 'दीक्षा' एक ऐसी फिल्म है जिसमें सवर्ण स्त्री का भोग दलित पात्र करता है । इन फिल्मों से नयी परंपरा की शुरुआत होती है । हाल ही में आई फिल्म 'दम लगा के हईसा' अनमेल विवाह को बखूबी बयान करता है ।

निष्कर्ष

समाज में मौजूद सभी वर्गों का उचित प्रतिनिधित्व सिनेमा जगत में होना चाहिए | सिनेमा समाज में जागरण और चेतना लाने का बड़ा माध्यम है,इसका प्रसार बड़े फलक पर होता है इसलिए दलितों के प्रति सिनेमा जगत को संवेदंशील होना चाहिए | दलितों में स्वाभिमान जगाने तथा उनके महापुरुषों पर केन्द्रित फिल्म का भी निर्माण करना चाहिए,कुछ ऐसी फिल्में बनाई जाए जो 'अछूत', 'सद्गति' तथा 'बूट पॉलिश' से उच्च स्तर की हो । 'मांझी','मसान'आर्टिकल 15 आदि इसी तरह की फिल्में हैं जिसमें इस समाज के यथार्थ को दिखाने का प्रयत्न हुआ है । सिनेमा जगत में दलित जीवन पर आधारित फिल्मों में वास्तविक समस्याओं को संपूर्णता से प्रस्तुत नहीं किया गया है जिसकी आवश्यकता है । दलितों की यथास्थिति का मुख्य कारण 'संगठन का अभाव' और 'अशिक्षा' है। 'शिक्षा' के अभाव में आज भी दलित वर्ग को भाग्य तथा भगवान का भय दिखाकर सताया जा रहा है और वे इस संकट को इस प्रकार सोचते हैं कि न्याय के दरवाजे तक पहुँचने में जो आर्थिक खर्चा आएगा वह उसे वहन करने में सक्षम नहीं हैं । जीवन में एक पिछड़ापन उनके समाज में है जो उनकी अशिक्षा और समाज का उनके प्रति सौतेले व्यवहार से उत्पन्न हुआ है | दलित समाज और जीवन पर केन्द्रित ऐसी फिल्मों की आवश्यकता है जो उनकी जड़ता ,उनके मानस में बंधा हुआ भ्रम भ्रम को तोड़ सकें,साथ ही संघर्ष और संगठन के महत्व को भी उनके सामने प्रस्तुत करना होगा । सच मानिए जिस दिन समाज में इस तरह की फिल्में आने लगेंगी तो वह दिन दूर नहीं है जब भारत का एक नया चेहरा बनना शुरू होगा | जिसमें व्यक्ति की पहचान उसके धर्म एवं जाति के आधार पर नहीं बल्कि उसके कर्मों के आधार पर होगी यह तभी संभव हो सकता है जो दलित होने के बोझ से कहीं अपने को मुख्य समाज से अलग -थलग पाता है | सिनेमा जगत को दलित जीवन का यथार्थ चित्रित करना होगा बल्कि कहे तो उनके जीवन संघर्ष के साथ उनके भीतर कुलबुलाते उनके आक्रोश को जुबान देनी होगी ताकि समाज अपने स्तर पर उन प्रश्नों और आक्रोश को समझ सकें| उनकी दीन-हीन अवस्था का चित्रण बहुत हो चुका अब उनके भीतर समय की गति के साथ जो परिवर्तन और चेतना आई है उसको चित्रित करने की आवश्यकता है ताकि दलितों को भी इस बात का अहसास हो किजातिगत बेड़ियों के बंधन समय के साथ धीरे -धीरे खुल रहे हैं,संवाद का सुंदर अवसर का निर्माण हो रहा है,ऐसे सकारत्मक माहौल में विद्वेष नहीं बल्कि सुन्दर भारत और समाज की हम कल्पना कर सकते हैं |

संदर्भ

1. मृत्युंजय. (2006). *सिनेमा के सौ बरस* .(सं), पृष्ठ संख्या 305-06. दिल्ली : शिल्पायन प्रकाश.
2. बिसारिया, जे. (2012-13) *हिन्दी सिनेमा में प्रतिरोध की संस्कृति दलित और हाशिये का समाज.* प्रजापति, महेंद्र (सं),समसामयिक सृजन, अक्टूबर-मार्च, पृ 47-62
3. सिंह, डॉ. देवेन्द्र नाथ और यादव,डॉ. सिंह वीरेंद्र (2012) *भारतीय हिन्दी सिनेमा की विकास यात्रा एक मूल्यांकन.*दिल्ली 110094 : पेसिफिक पब्लिकेशन, पृ 317
4. मृत्युंजय. (2006). *सिनेमा के सौ बरस.* (सं), सिनेमा के सौ बरस से (पृष्ठ संख्या 309). दिल्ली : शिल्पायन प्रकाश.
5. मृत्युंजय. (2006). *सिनेमा के सौ बरस* . (सं). सिनेमा के सौ बरस से (पृष्ठ संख्या 307). दिल्ली : शिल्पायन प्रकाश.
6. सिंह, डॉ देवेन्द्र नाथ और यादव, डॉ वीरेंद्र सिंह. (2012) *भारतीय हिन्दी सिनेमा की विकास यात्रा एक मूल्यांकन.* दिल्ली 110094 : पेसिफिक पब्लिकेशन, पृ 317
7. मृत्युंजय. (2006). *सिनेमा के सौ बरस* .(सं).सिनेमा के सौ बरस से (पृष्ठ संख्या 308). दिल्ली : शिल्पायन प्रकाश.